स्मृति प्रामाण्य

स्मृतिको प्रमा—प्रमाण माननेके बारेमें मुख्य दो परम्पराएँ हैं—जैन और जैनेतर। जैन परम्परा उसे प्रमाण मानकर परोक्षके भेद रूपसे इसका वर्णन करती है। जैनेतर परम्पराबाले वैदिक, बौद्ध, सभी दर्शन उसे प्रमाण नहीं मानते अतएव वे किसी प्रमाणरूपसे उसकी चर्चा नहीं करते। स्मृतिको प्रमाण न माननेवाले भी उसे अप्रमाण—मिथ्याज्ञान—नहीं कहते पर वे प्रमाण शब्दसे उसका केवल व्यवहार नहीं करते।

स्मृत्यात्मक ज्ञानमें प्रमाण शब्दका प्रयोग करने न करनेका जो मतभेद देखा जाता है इसका बीज धर्मशास्त्रके इतिहासमें है। वैदिक परम्परामें धर्मशास्त्र रूपसे वेद अर्थात् श्रुतिका ही मुख्य प्रामाण्य माना जाता है। मन्वादिस्मृतिरूप धर्मशास्त्र प्रमाण हैं सही पर उनका प्रामाण्य श्रुतिमूलक है। जो स्मृति श्रुतिमूलक है या श्रुतिसे अविरुद्ध है वही प्रमाण है अर्थात् स्मृतिका प्रामाण्य श्रुतिप्रामाण्य-तन्त्र है स्वतन्त्र नहीं[1]। धर्मशास्त्रके प्रामाण्य की इस व्यवस्थाका विचार बहुत पुराने समय से मीमांसादर्शन ने किया है। जान पड़ता है जब स्मृतिरूप धर्म-शास्त्रको छोड़कर भी स्मृतिरूप ज्ञानमात्र के विषय में प्रामाण्यविषयक प्रश्न मीमांसकोंके सामने आया तब भी उन्होंने अपना धर्मशास्त्रविषयक उस सिद्धान्त का उपयोग करके एक साधारण ही नियम बाँध दिया कि स्मृतिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, उसका प्रामाण्य उसके कारणभूत अनुभवके प्रामाण्य पर निर्भर है अतएव वह मुख्य प्रमाणरूपसे गिनी जाने योग्य नहीं। सम्भवतः वैदिक धर्मजीवी मीमांसा दर्शन के इस धर्मशास्त्रीय या तत्त्वज्ञानीय निर्णयका प्रभाव सभी न्याय, वैशेषिक, सांख्य[2], योग आदि इतर वैदिक दर्शनों पर पड़ा है।

---

१. 'पारतन्त्र्यात् स्वतो नैषां प्रमाणत्वावधारणा। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते॥ पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥'—तन्त्रवा० पृ० ६६।

२. 'एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा, न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।'—तत्त्ववै० १. ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतएव वे अपने-अपने मन्तव्यकी पुष्टिमें चाहे युक्ति भिन्न-भिन्न बतलाएँ फिर भी वे सभी एक मतसे स्मृतिरूप ज्ञानमें प्रमाण शब्दका व्यवहार न करनेके ही पक्षमें हैं।

कुमारिल आदि मीमांसक कहते हैं कि स्मृतिज्ञान अनुभव द्वारा ज्ञात विषयको ही उपस्थित करके कृतकृत्य हो जानेके कारण किसी अपूर्व अर्थका प्रकाशक नहीं, वह केवल गृहीतग्राहि है और इसीसे वह प्रमाण नहीं[1]। प्रशस्तपादके अनुगामी श्रीधरने भी उसी मीमांसककी गृहीतग्राहित्ववाली युक्तिका अवलम्बन करके स्मृतिको प्रमाणबाह्य माना है (कन्दली पृ० २५७)। पर अक्षपादके अनुगामी जयन्तने दूसरी ही युक्ति बतलाई है। वे कहते हैं कि स्मृतिज्ञान विषयरूप अर्थके सिवाय ही उत्पन्न होनेके कारण अनर्थज होनेसे प्रमाण नहीं[2]। जयन्तकी इस युक्तिका निरास श्रीधरने[3] किया है। अक्षपादके ही अनुगामी वाचस्पति मिश्रने तीसरी युक्ति दी है। वे कहते हैं कि लोकव्यवहार स्मृतिको प्रमाण माननेके पक्षमें नहीं है अतएव उसे प्रमा कहना योग्य नहीं। वे प्रमाकी व्याख्या करते समय स्मृतिभिन्न ज्ञानको लेकर ही विचार करते हैं (तात्पर्य पृ० २०)। उदयनाचार्यने भी स्मृतिको प्रमाण न माननेवाले सभी पूर्ववर्ती तार्किकोंकी युक्तियोंका निरास करके अन्तमें वाचस्पति मिश्रके तात्पर्यका अनुसरण करते हुए यही कहा है कि अनपेक्ष होनेके कारण अनुभव ही प्रमाण कोटिमें गिना जाना चाहिए, स्मृति नहीं; क्योंकि वह अनुभवसापेक्ष है और ऐसा माननेका कारण लोकव्यवहार ही है[4]।

---

१. 'तत्र यत् पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थानमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥'—श्लोकवा० अनु० श्लो० १६०। प्रकरणप० पृ० ४२।

२. 'न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥'—न्यायम० पृ० २३।

३. 'ये त्वनर्थजत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः तेषामतीतानागतविषयस्यानुमानस्याप्रामाण्यं स्यादिति दूषणम् ॥'—कन्दली० पृ० २५७।

४. 'कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः? अननुभवत्वेनैव। यथार्थो ह्यनुभवः प्रमेति प्रामाणिकाः पश्यन्ति। 'तत्त्वज्ञानाद्' इति सूत्रणात्। अव्यभिचारि ज्ञानमिति च। ननु स्मृतिः प्रमैव किं न स्याद् यथार्थज्ञानत्वात् प्रत्यक्षाद्यनुभूतिवदिति चेत्। न। सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्, अव्यवस्थया लोकव्यवहारविप्लवप्रसङ्गात्। न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति, पृथगनुपदेशात्।'—न्यायकु० ४.१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धदर्शन स्मृतिको प्रमाण नहीं मानता। उसकी युक्ति भी मीमांसक या वैशेषिक जैसी ही है अर्थात् स्मृति गृहीतग्राहिणी होनेसे ही प्रमाण नहीं (तत्त्वसं० प० का० १२६८)। फिर भी इस मन्तव्यके बारेमें जैसे न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों पर मीमांसा—धर्मशास्त्र—का प्रभाव कहा जा सकता है वैसे बौद्ध-दर्शन पर कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह वेदका ही प्रामाण्य नहीं मानता। विकल्पज्ञानमात्र[1]को प्रमाण न माननेके कारण बौद्ध दर्शनमें स्मृतिका प्रामाण्य प्रसक्त ही नहीं है।

जैन तार्किक स्मृतिको प्रमाण न माननेवाले भिन्न-भिन्न उपर्युक्त दर्शनोंकी गृहीतग्राहित्व, अनर्थजत्व, लोकव्यवहाराभाव आदि सभी[2] युक्तियोंका निरास करके केवल यही कहते हैं, कि जैसे संवादी होनेके कारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहे जाते हैं वैसे ही स्मृतिको भी संवादी होने ही से प्रमाण कहना युक्त है। इस जैन मन्तव्यमें कोई मतभेद नहीं। आचार्य हेमचन्द्रने भी स्मृतिप्रामाण्यकी पूर्व जैन परम्पराका ही अनुसरण किया है—प्र० मी० पृ० २३।

स्मृतिज्ञानका अविसंवादित्व सभीको मान्य है। वस्तुस्थितिमें मतभेद न होने पर भी मतभेद केवल प्रमा शब्दसे स्मृतिज्ञानका व्यवहार करने न करनेमें है।

---

१. 'गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं''''''—(सांवृतम्—विकल्पज्ञानम्—मनोरथ०) प्रमाणवा० २.५।

२. 'तथाहि—अमुष्याऽप्रामाण्यं कुतोऽयमाविष्कुर्वीत, किं गृहीतार्थग्राहित्वात्, परिच्छित्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतेर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवादकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वात् वा।''—स्याद्वादर० ३. ४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org